आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः

संक्षिप्त शंकर भाष्य सहित

बृहदारण्यक उपनिषद्

संकलकः स्वामी निरंजन

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देव देव ।।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः

(बृहदारण्यक उपनिषद्)

स्वामी निरंजन

प्रकाशक : **निरंजन बुक् ट्रष्ट**
प्रथम मुद्रण : रास पूर्णिमा, २०१६
मुद्रण एवं अलंकरण : **दिव्य मुद्रणी,** भुवनेश्वर –२ (उड़िसा)
फोन : 9437006566, 9937844884
प्रच्छद प्रस्तुति : **विभु**
मूल्य : **रु** 30/-

श्रीसद्‌गुरुदेवाय नमः

यह बृहदारण्यक उपनिषद् यजुर्वेद की काण्डवी शाखा के वाजसनेयि ब्राह्मण के अन्तर्गत है । वस्तुतः उपनिषद् ही तत्त्वज्ञान के आदि स्त्रोत हैं । उनसे निकलकर ही ज्ञान गंगा जीवों के त्रिताप का शमन करती है । यह समस्त उपनिषदों की अपेक्षा बृहत् है तथा अरण्य में अध्ययन की जाने के कारण आरण्यक कहते हैं । इस कारण 'बृहत्' और 'आरण्यक' होनेके कारण इसका नाम 'बृहदारण्यक' हुआ है ।

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

शान्ति पाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।
ॐ शान्तिः! ॐ शान्तिः!! ॐ शान्तिः!!!

ॐ परब्रह्म पूर्ण है और उनसे उत्पन्न यह साकार कार्यब्रह्म रूप जीव जगत् भी पूर्ण है । क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है । तथा प्रलय काल में पूर्ण कार्यब्रह्म का पूर्णत्व लेकर अपने में लीन करके पूर्ण परब्रह्म की ही बच रहता है ।

परमात्मा अखंड सत्ता होने से यहाँ है, अभी है तथा मेरे रूप में भी है। यदि वह परमात्मा यहाँ नहीं, अभी नहीं और मेरे रूप में नहीं है, तब वह परमात्मा अखण्ड भी नहीं हो सकता ।

प्रथम अध्याय

तृतीय ब्राह्मण

शिष्य के द्वारा सद्गुरु के प्रति प्रार्थना

'असतो मा सद्गमय'

हे गुरुदेव ! आप मुझे अज्ञान जनित असत जड़ कर्मकाण्डसे निकाल कर सत् आत्मा की ओर ले जाने की कृपा कीजिए । यहाँ मंत्र, माला, पूजा-पाठ, होम, यज्ञ, तप, तीर्थादि ही असत् है एवं अमृत आत्मा ही सत् है । अतः शिष्य कहता है कि मुझे बन्धन रूप कर्मकाण्ड से मुक्त करके अमृत आत्मा का बोध कराइये ।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय'

हे गुरुदेव ! आप मुझे अज्ञान अन्धकार से निकाल कर ज्ञान प्रकाश में ले जाओ । यहाँ भेद बुद्धि करना ही तम अर्थात् अन्धकार है एवं एक अखण्ड ब्रह्मसत्ता का बोध करना ही ज्योति अर्थात् प्रकाश रूप है । भेदबुद्धि ही बन्धन का हेतु है एवं एक अखण्ड आत्मा का ज्ञान ही मुक्ति का हेतु है ।

'मृत्योः मा अमृतं गमय'

हे गुरुदेवः ! आप मुझे मृत्यु भय से मुक्ति दिलाकर अभयता प्रदान करे एवं अमृत आत्मा का अनुभव कराने की कृपा करें ।२८।

यदि मेरे सिवा कोई दूसरा नहीं है तो भय कैसा ? क्योंकि भय तो दूसरे से होता है । तो मैं किससे डरता हूँ ? ऐसा विचार करते ही मृत्यु भय से निवृत्त हो गया ।

हमारे त्रिविध ताप की निवृत्ति होकर हमें अखण्ड शान्ति प्राप्त हो, ऐसी हमारी प्रार्थना है ।

संसार बन्धनको दूर करने की इच्छावाले विरक्त पुरुषों के लिये संसार के कारण अज्ञान की निवृत्ति के साधन ब्रह्मात्मैक्य बोध की प्राप्ति करना जरूरी होता है । यह ब्रह्मविद्या मुमुक्षु के जन्म–मृत्युरूप संसार का कारण अविद्या का अज्ञान सहित अत्यन्त अवसादन करती है । इसीलिये उपनिषद् शब्द से कही जाती है ।

प्रजापति से मिथुन के द्वारा सृष्टि

प्रजापति ने इच्छा की कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ क्योंकि एकाकी पुरुष रममाण नहीं होते, जिस प्रकार परस्पर स्त्री और पुरुष आलिंगन होते हैं । अतः प्रजापति ने अपने देह को ही दो भागों में विभक्त कर डाला जो पति और पत्नी कहलाए ।

प्रजापति से उत्पन्न शतरूपा नाम की लड़की ने सोचा कि 'मैं अपने ही पिता से कैसे समागम करूँ ? और यह प्रजापति भी अपने से उत्पन्न अपनी लड़की से कैसे संभोग करने की इच्छा व चेष्टा कर रहा है यह देख मुझे महान् आश्चर्य हो रहा है । अच्छा होगा की मैं कहीं छिप जाऊँ ।' अतः वह युवती शतरूपा गौ हो गयी तो प्रजापति साँड बनकर अपनी गौ रूप लड़की से संभोग करने लगा । जिससे गाय, बछड़ी, बछड़े उत्पन्न होने लगे । फिर शतरूपा घोड़ी हो गयी और प्रजापति घोड़ा बना, फिर वह शतरूपा गधी हो गयी और प्रजापति गधा होकर उससे संभोग करने लगा जिससे एक खुर वाले पशु बने । तब शतरूपा बकरी हो गयी और प्रजापति बकरा हो गया । फिर वह भेड़ होगयी और प्रजापति भेड़ा होकर भेड़नी से संभोग करने लगा इस प्रकार गाय, घोड़ी, गधी, बकरी और भोड़ों की उत्पत्ति हुई । चींटी से लेकर जितने नर–मादा के जोड़े हैं उन सभी की मिथुनी धर्म से प्रजापति ने रचना कर डाली ।

इस प्रकार प्रजापति संज्ञक प्रजापति अपनी ही कन्या सतरूपा नाम की कन्या से संभोग करने में प्रवृत्त हुए । उस मैथुन की प्रवृत्ति से मनुष्य उत्पन्न हुए । प्रजापति ने सम्पूर्ण जगत् को रचकर जाना कि मैं ही सृष्टि हूँ और मैं ही स्रष्टा हूँ।

चतुर्थ ब्राह्मण

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत् । अहं ब्रह्मास्मीति । तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवँ्सूर्यश्चेति । तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदँ्सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते । आत्मा ह्येषाँ्स भवति । अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योंऽसावन्योंऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवँ्स देवानाम् । यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ।।१०।।

पहले यह ब्रह्म ही था; उसने अपने को ही जाना कि ''मैं ब्रह्म हूँ ।'' अतः वह सर्व हो गया । उसे देवों में से जिसने जाना वह देव ब्रह्म रूप हो गया । इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्यों में से भी जिसने जाना वह ब्रह्म रूप हो गया । उसे आत्मा रूप से देखते हुए ऋषि वामदेव ने जाना ! ***उस इस ब्रह्म को आज भी जो इस प्रकार जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ वह यह सर्व हो जाता है। उसके पराभव में देवता भी समर्थ नहीं होते हैं। क्योंकि वह उन सभी देव, मनुष्य, असुर का आत्मा ही हो जाता है।***

जो अन्य देवता की 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकार उपासना करता है वह परमात्मा की सच्ची भक्ति करना नहीं जानता है क्योंकि उसे अभीतक कोई सच्चा आत्मदर्शी सद्‌गुरु प्राप्त नहीं हुआ है ।

जो परमात्मा की, अन्य देवता की 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकार उपासना करता है वह देवता का पशु कहलाता है । जैसे लोक में बहुत से पशु खेती द्वारा अथवा बछड़ा,बछड़ी, दूध द्वारा मनुष्य जाति का पालन करते हैं उसी प्रकार एक–एक मनुष्य देवताओं का पालन करता है । जैसे एक पशु का ही हरण किये जाने पर उस मालिक का जीवन यापन कठिन हो जाता है । फिर सभी पशुओं का हरण हो जाने पर तो पशुपालन कर्ता कृषक परिवार एवं नगर के जीवों का जीना ही असंभव हो जाता है । इसलिये देवताओं को यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य हम देवताओं की भक्ति छोड़ अद्वैत ब्रह्मात्म तत्त्व को जानें । क्योंकि अद्वैत अखण्ड ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त हो जाने पर जीव द्वारा कल्पित देवी–देवता की भक्ति स्वतः छूट जाती है ।

द्वितीय अध्याय

चतुर्थ ब्राह्मण

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मा–त्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ।।१।।

अरी मैत्रेयी ! ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा – मैं इस गृहस्थ जीवन से ऊपर संन्यास आश्रम में जाना चाहता हूँ । अतः मैं जाने से पूर्व कात्यायनी व तुम दोनों के साथ धन, सम्पत्ति का समविभाग कर देना चाहता हूँ ताकि मेरे जाने के बाद धन के सम्बन्ध में तुम दोनों के बीच धन, सम्पत्ति के लिए कलह पैदा न हो ।

सा होवाच मैत्रेयी । यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोप–करणवतां जीवितं तथैव ते जीवित ँ्स्वादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ।।२।।

उस मैत्रेयी ने कहा 'भगवन् ! यदि यह धन से सम्पन्न सारी पृथ्वी मेरी हो जाय तो क्या मैं उस धनसे किसी प्रकार अमर हो सकती हूँ ? जिसको पाने के लिए आपने बहुत कष्ट उठाया, अब उस सम्पूर्ण धन सम्पत्ति को छोड़ जाना चाहते हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं । भोग–सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भोगमय जीवन होगा । किन्तु अनित्य धन से अमृतत्त्वकी प्राप्ति कभी सम्भव नहीं है ।

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ।।३।।

पति के द्वारा कल्याणप्रद अमृत वचन सुनकर उस मैत्रेयी ने कहा, जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उस नाशवान् धन सम्पत्ति को लेकर मैं क्या करूँगी ? श्रीमान् जो कुछ आप अमृतत्व पाने का साधन जानते हैं, अब वही मुझे भी बताइये ।

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ।४।

उन याज्ञवल्क्यजी ने कहा, 'धन्य ! अरी मैत्रेयी, तू पहले भी हमारी प्रिया रही है और इस मेरे संन्यास लेने के समय भी तू मुझे प्रिय लगनेवाली बात ही कह रही है । अच्छा ! तू मेरे पास आ बैठजा व सावधान मन से मेरी बातका श्रवण कर मैं तेरे लिये उस अमृतत्व की व्याख्या करूँगा, तू व्याख्यान किये हुए मेरे वाक्यों का मनन व निदिध्यासन पूर्वक चिन्तन करना ।

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति । न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति । न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति । न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।।५।।

अरी मैत्रेयी ! पति के सुख के लिये किसी स्त्री को अपना पति प्रिय नहीं होता है, अपने सुख के लिये ही सभी स्त्रीयोंको पति प्रिय होता है । पत्नी के सुख के लिये किसी पुरुष को अपनी पत्नी प्रिय नहीं होती है, अपने सुख के लिये पति को पत्नी प्रिया होती है । पुत्रों के सुख के लिये पिता को पुत्र प्रिय नहीं होता है, अपने ही सुख के लिये ही पिता को पुत्र प्रिय होते हैं । मित्रों के सुख के लिये किसी को मित्र प्रिय नहीं होता है, अपने सुख के लिये सबको मित्र प्रिय होता है । धन के सुख

के लिये किसी को धन प्रिय नहीं होता है, अपने सुख के लिये सबको धन प्रिय होता है। पशु के सुख के लिये किसी पालक को अपना पशु प्रिय नहीं होता है, बल्कि अपने सुख के लिये ही पशु प्रिय होता है। ब्राह्मण के सुख के लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता है, अपने सुख के लिये ब्राह्मण प्रिय होता है। क्षत्रिय के सुख के लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने सुख के लिये ही क्षत्रिय प्रिय होता है। स्वर्ग, वैकुण्ठ, शिव, भूलोकादि लोकों के सुख के लिये लोक प्रिय नहीं होते हैं, अपने ही सुख के लिये ही सर्व लोक प्रिय होते हैं। देवों के सुख के लिये किसी भक्तको देव प्रिय नहीं होते हैं, बल्कि अपने मनो कामनाओं की पूर्ति की आशा से ही, अपने सुख के लिये ही उन भक्तों को उनके देव प्रिय होते है। वेदों के सुख के लिये वेद प्रिय नहीं होते, बल्कि अपने ही सुख के लिये वेद पाठ प्रिय होते हैं। भूतों के सुख के लिये किसी मानव को भूत प्रिय नहीं होते, बल्कि अपने ही सुख के लिये ही भूत प्रिय होते हैं। सब के सुख के लिये सब प्रिय नहीं होते, बल्कि अपने सुख के लिये ही सब प्रिय होते हैं। जो मानव की अपने से भिन्न अर्थात् आत्मा से भिन्न अन्यत्र प्रीति है वह गौणी है, मुख्य प्रीति अपने आत्मा में है, अपने आप में है।

अतः अरी मैत्रेयी ! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयी! इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से इस जीव को परम शान्ति प्राप्त होती है, अन्यथा किसी साधन से नहीं।

अखण्ड आत्मा से पृथक् किञ्चित् भी नहीं है

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणायेव स्यात् । यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव । एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ।।१२।।

ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है जो ब्राह्मण जाति को आत्मा से भिन्न समझता है । क्षत्रिय जाति उसे परास्त कर देती है जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से भिन्न समझता है । लोक उसे परास्त कर देता है जो लोकों को आत्मा से भिन्न समझता है । देवता उसे परास्त कर देते हैं जो देवताओं को आत्मा से भिन्न समझता है । भूत उसे परास्त कर देते हैं जो भूतों को आत्मा से भिन्न समझता है ।

वे सब उसे परास्त कर देते हैं जो सबको अपने आत्मा से भिन्न एवं गौण जानता है । यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव, वेद, भूतादि जो कुछ भी हैं, यह सब एक अखण्ड आत्मा ही हैं और वह तुम ही हो । 'तत्त्वमसि' ।

हे मैत्रेयी ! देह, इन्द्रिय, प्राण, मनादि देह संघात् से अहं–मम अर्थात् मैं–मेरा भाव की निवृत्ति जीव द्वारा हो जाने पर फिर उसे यह अहंकार नहीं रहता कि मैं नाम, जाति, पद, प्रतिष्ठावान् हूँ । 'मैं अमुक हूँ' इस प्रकार विशेष संज्ञा नहीं रहती है क्योंकि यह समस्त उपाधियाँ तो अज्ञान जनित देहात्म बुद्धि से ही है और अब उस मुमुक्षु का ब्रह्मविद्या से अविद्या अज्ञान का नाश हो चुका है, इसलिये चैतन्य स्वरूप ब्रह्मवेत्ता की शरीर में रहते हुए भी कोई संज्ञा होनी सम्भव नहीं है फिर ज्ञान द्वारा देह संघात् के अभिमान से मुक्त होने पर तो रह ही कैसे सकती है ।

व्यवहार में द्वैत है, परमार्थ व्यवहारातीत है

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरँ् श्रृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्यत्तत्केन कँ् श्रृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदँ् सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ।।१४।।

जहाँ अज्ञान है वहाँ ही द्वैत–सा होता है, वहीं अन्य, अन्य को सूँघता है, अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सुनता है । अन्य अन्यका अभिवादन करता है । अन्य अन्यको जानता है । अन्य अन्य का मनन करता है । किन्तु जिसके लिये अखण्ड निजात्म स्वरूप का, एकत्व आत्म तत्त्व का बोध हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखें, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे । किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने ? जिसके द्वारा पुरुष इन सब को जानता है, उसे किसके द्वारा जाने ?

वह आत्मा अगृाह्य है – उसका ग्रहण किसी साधन एवं इन्द्रिय द्वारा नहीं किया जाता है, यह आत्मा अशीर्य है– उसका विनाश नहीं होता, असंग है– आसक्त नहीं होता, अबद्ध है, वह व्यथित और क्षीण नहीं होता । हे मैत्रेयि ! विज्ञाता को अर्थात् सबको जाननेवाले को किसके द्वारा जाने ?

इस प्रकार तुझे आत्मा का उपदेश कर दिया गया । अरी मैत्रेयि ! निश्चय जान, इतना ही अमृतत्व है, ऐसा कह कर याज्ञवल्क्यजी परिब्राजक संन्यासी हो गये । (यह बात ४/५/१५ में भी है)

यह जीव चोर कब होता है ?

देहाभिमानी पुरुष पाप यानी अधर्म से नहीं बचता अर्थात् उससे छुटकारा नहीं होता । ऐसा ही वह व्यर्थ अन्न का भोग करता है । अतः केवल अपने लिये ही अन्न पाक न करे । जो अपने सवकों को, कुत्ते, पशु, पक्षी, चींटी को बिना दिये भोजन करता है वह चोर ही है ।

दुर्भिक्ष के समय जो धनाढ्य व्यक्ति प्राणियों को बिना बाँटे स्वयं अन्न खाता है वह चोर व पापी है, क्योंकि अन्न सभी का जीवन, प्राण है । सबका भोज्य होने के कारण ही उस अन्न का केवल अपने मुख में दिया जाने वाला ग्रास भी दूसरे को पीड़ा देने वाला देखा जाता है क्योंकि उस पर 'यह मेरा हो' यह मुझे मिले इस प्रकार सभी की आशा बँधी रहती है । अतः दूसरों के मन को कष्ट दिये बिना उसे खाया भी नहीं जा सकता ।

यज्ञाशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।३।१३ गीता

जो दूसरों को खिलाकर यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष है, वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं और जो पापी लोग अपना शरीर–पोषण करने के लिये ही अन्न पकाते हैं वे तो पाप को कमाकर, पाप के पका कर पाप को ही खाते हैं । ३।१३ गीता

तृतीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

याज्ञवल्कीय काण्ड

जब शास्त्र और युक्ति दोनों ही आत्मैकत्व प्रदर्शित करने के लिये प्रवृत्त हों तो वे मुमुक्षुओं को उनके हथेली पर रखे आंवला फल के समान साक्षात्कार करा सकते हैं । जैसे निर्वाणाष्टक के द्वारा मुमुक्षु को अपना सहज स्वरूप की प्राप्ति होजाती है ।

मनोबुद्ध्यहंकार चित्तानि नाहं,
न च श्रोत्र जिह्वे न च घ्राण नेत्रे ।
न च व्योम भूमि न तेजो न वायुः,
चिदानन्द रूपः शिवोऽहं – शिवोऽहम् ।।
न च प्राणसंज्ञो न वै पञ्चवायूः
न वा सप्तधातु र्न वा पंचकोषः ।
न वाक् पाणि पादं न चोपस्थ पायूः
चिदानन्द रूपः शिवोऽहं – शिवोऽहम् ।।
न मे द्वेष रागौ न मे लोभ मोहौ,
मदो नैव मे नैव मात्सर्य भावः ।।
न धर्मों न चार्थो न कामो न मोक्षः,
चिदानन्द रूपः शिवोऽहं – शिवोऽहम् ।।
न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं,
न मन्त्रो न तीर्था न वेदा न यज्ञाः ।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता,

चिदानन्द रूपः शिवोऽहं – शिवोऽहं ।।
न मे मृत्यु शंका न मे जाति भेदः,
पिता नैव मे नैव माता च जन्म ।
न बन्धु र्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः,
चिदानन्द रूपः शिवोऽहं – शिवोऽहम् ।।
अहं निर्विकल्पो निराकार रूपो,
विभु व्याप्त सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम् ।
सदा मे समत्वं न बन्ध न मुक्तिः
चिदानन्द रूपः शिवोऽहं – शिवोऽहम् ।।
नाहं मनुष्यो न च देव यक्षो,
न ब्राह्मण्य न क्षत्रीय न वैश्य शुद्रः ।
नाहं ब्रह्मचारी न गृही न वनस्थो
भिक्षुर्न चाहं शिवोऽहं – शिवोऽहम् ।।

उपरोक्त पाठ के द्वारा मुमुक्षु को अपने असंग, द्रष्टा, साक्षी, स्वरूप का सहज बोध हो जाता है। उसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं रहता है।

ॐ जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनुचानतम इति स ह गवाँ् सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः श्रृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ।।१।।

एक समय विदेह देश में रहने वाले राजा जनक ने एक बड़ी दक्षिणावाले यज्ञ का यजन किया। उसमें कुरु और पांचाल देशों के ब्राह्मण एकत्रित हुए क्योंकि इन्हीं देशों में महान् विद्वान् समुदाय की

बहुलता प्रसिद्ध है । उस विदेहराज यजमान जनक की यह इच्छा हुई की इनमें कौन अनुवचन करने में सबसे अधिक समर्थ है ? यह उसने जानना चाहा कि प्रवचन करनेवाले तो ये सभी ब्रह्मनिष्ठ हैं परन्तु इन सभी विद्वानों में अतिशय ब्रह्मतत्व पर प्रवचन करनेवाला कौन है?

इसलिये उसने एक हजार गौएँ गोशाला में रोकली व प्रत्येक गाय के दोनों सीगों में पाँच–पाँच स्वर्ण मुद्रा बाँध दिये थे ।१।

तान् होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो बुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताश्चलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं स्म इति तँ् ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताश्वलः ।। २ ।।

विदेह राज जनक ने यह घोषणा की कि – सभा में उपस्थित हे पुज्य ब्राह्मणगणों ! आप में जो ब्रह्मिष्ठ है वह गौओं को ले जाय । किन्तु उस सभा के किसी ब्राह्मण का उन गायों को ले जाने का साहस न हुआ । तब याज्ञवल्क्य ने अपने ब्रह्मचारी शिष्य सौम्य से कहा – 'तू इन गायों को अपने आश्रम ले जा' वहाँ विद्यार्थियों को दूध की जरूरत है । वह शिष्य उन सभी गायों को ले चला । इससे वे सभी ब्राह्मण अपना अपमान समझकर याज्ञवल्क्य के साहस पर क्रुद्ध हो कर वे बोले अरे ! तू अपने को ब्रह्मिष्ठ कैसे कहता है ? विदेहराज जनक का होता ब्राह्मण अश्वल इस याज्ञवल्क्य से पूछा – क्या हम सब में तुम ही एक ब्रह्मिष्ठ अर्थात् ब्रह्म को जाननेवाले हो? याज्ञवल्क्यजी ने कहा 'ब्रह्मिष्ठ को तो हम नमस्कार करते हैं इस समय हम तो गौओं की ही इच्छा करने वाले हैं' ।

याज्ञवल्क्य से उस सभा के मुख्य–मुख्य विद्वानों ने अनेक प्रश्न किये याज्ञवल्क्य उनको शान्त करके बोले –हे विद्वान् ब्राह्मणों ! सावधान मन से मेरे द्वारा वेदमत को सुनो । तुम जो चाहते हो कि मैं तुम्हें चाँद, सूरज, पहाड़, नदी, हाथी, गाय आदि की तरह परमात्मा को प्रत्यक्ष रूप से दिखाउँ तो यह पूर्ण असम्भव बात है । क्योंकि परमत्मा दृश्य नहीं द्रष्टा है । उस द्रष्टा को दृश्य की तरह कभी देखा नहीं जा सकता । जैसे की केन उपनिषद मैं निम्न पांच मन्त्रों द्वारा स्पष्ट बोध करादिया है कि उस परमात्मा को 'यह' या 'वह' रूप में कभी देखा नहीं जा सकेगा । क्योंकि वह निराकार सर्वव्यापक आकाशवत् असंग, निष्क्रिय–अकर्ता, अभोक्ता चेतन अनुभव स्वरूप सबका अपना आत्मा ही है ।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।४

वाणी ब्रह्म नहीं वाणी के द्वारा बोलागया कोई भी मन्त्र ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है । तो फिर ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप क्या है ? जिसकी शक्ति का अंश पाकर वाणी मन्त्र उच्चारण करने में समर्थ होती है वह आत्मा है, वह ब्रह्म है, वह मैं हूँ।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।५

मन ब्रह्म नहीं मन के द्वारा सोचागया कोई भी विषय ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है । तो फिर ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप क्या है ? जिसकी शक्ति का अंश पाकर मन संकल्प–विकल्प करने में समर्थ होता है वह आत्मा है, वह ब्रह्म है, वह मैं हूँ।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषिं पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।६।।

आँख ब्रह्म नहीं आँख के द्वारा देखागया कोई भी रूप ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है । तो फिर ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप क्या है ? जिसकी शक्ति का अंश पाकर यह आँख रूप देखने में समर्थ होती है वह आत्मा है, वह ब्रह्म है, वह मैं हूँ।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदँ श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।७।।

कान ब्रह्म नहीं कान के द्वारा सुनागया कोई भी शब्द ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है । तो फिर ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप क्या है ? जिसकी शक्ति का अंश पाकर यह कान शब्द सुनने में समर्थ होता है वह आत्मा है, वह ब्रह्म है, वह मैं हूँ।

यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणःप्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।८।।

प्राण ब्रह्म नहीं, प्राण के द्वारा किया गया कोई भी क्रिया ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है । तो फिर ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप क्या है ? जिसकी शक्ति का अंश पाकर यह प्राण भीतर बाहर होने में, भूख–प्यास लगाने में समर्थ होता है वह आत्मा है, वह ब्रह्म है, वह मैं हूँ।

द्वितीय ब्राह्मण

तत्त्वज्ञ के देह मृत्यु का क्रम

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात् प्राणाः क्रामन्त्याहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्यायत्याध्मातो मृतः शेते ।।११।।

आर्तभाग ने पूछा – हे याज्ञवल्क्य ! जिस समय यह आत्मज्ञानी का देहत्याग होता है, उस समय इसके प्राणों का उत्क्रमण होता है या नहीं? 'नहीं, नहीं' ऐसा याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'उनके प्राण यहाँ ही लीन हो जाते हैं। उसका शरीर फूल जाता है अर्थात् वायु को भीतर खींचता है और वायु से पूर्ण हुआ ही मृत होकर पड़ा रहता है।' अज्ञानी के प्राण मरने पर उसके कर्मानुसार उपयुक्त शरीर में प्रवेश करने चले जाते हैं। किन्तु ज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं वे यहीं इस परमात्मा में ही अभेद को प्राप्त हो जाते हैं।

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीँ् शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभागावामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सजन इति । तौ होत्क्रम्य मन्त्रयाञ्चक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ यत् प्रशशँ्सतुः कर्म हैव तत् प्रशशँ्सतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ।। १३ ।।

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा आर्तभाग ने कहा– 'जिस समय इस मृत पुरुष की वाक् अग्नि में लीन हो जाती है तथा प्राण वायु में, चक्षु

आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशा में, शरीर पृथ्वी में, हृदयाकाश भूताकाश में, लोम औषधियों में और केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं तथा लोहित और वीर्य जल में स्थापित हो जाते हैं, उस समय यह पुरुष कहाँ रहता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा 'हे प्रियदर्शन ! तू मुझे अपना हाथ पकड़ा हम दोनों ही इस प्रश्न का उत्तर जानेंगे, यह प्रश्न जन समुदाय में होने योग्य नहीं है ।

तब उन दोनों ने उठकर एकान्त में विचार किया । अज्ञानी व्यक्ति तो अपने कर्म में स्थित हो जाता है, वह अपने पुरुष पुण्य कर्म से पुण्यवान् होता है और पाप कर्म से पापी होता है । हे आर्तभाग ! ज्ञान होने पर उसे पुण्य-पाप स्पर्श नहीं करते है । ब्रह्म -जीव तो घटाकाश महाकाश की तरह सदा अभिन्न ही होते हैं । तब आर्तभाग चुप होगया ।

चतुर्थ ब्राह्मण

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः प्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानीति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानीति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ।। १ ।।

चाक्रायण उषस्त ने पूछा - 'हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी मेरे प्रति व्याख्या करो ।'

याज्ञवल्क्य ने कहा– यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है ।

उषस्त ने पूछा– वह सर्वान्तर कौनसा है ?

याज्ञवल्क्य ने कहा – जो प्राण से प्राण क्रिया करता है वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है; जो अपान से अपान क्रिया करता है, यह आत्मा ही निरन्तर ब्रह्म है; जो व्यान से व्यानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है; जो उदान से उदानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है ।

यह आत्मा ही प्रत्यगात्मा, द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा अर्थात् जाननेवाला और सर्वानुभू है, सबको सब प्रकार अनुभव करता है, इसलिये वह सर्वानुभू है । यह जो आत्मा है वही ब्रह्म है '**तदेतद्ब्रह्म य आत्मा**' ।

आत्मा की अनिर्वचनीयता

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमेवैतद् व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मा य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः । न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्र्प्रतारं श्रृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातोर्विज्ञातारं विजानीयाः । एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपराम ।। २ ।।

चाक्रायण ने कहा, जिस प्रकार कोई चलना व दौड़ना दिखाकर कहे यह चलनेवाला मनुष्य है, यह दौड़नेवाला घोड़ा है, उसी प्रकार मुझे तुम साक्षात् अपरोक्ष आत्मा को, सर्वान्तर आत्मा को स्पष्ट तया समझाओ । याज्ञवल्क्य ने कहा– **देख देख देखनेवाले को देख । जान जान जानने वाले को जान । सुन सुन सुननेवाले को सुन ।**

यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है । उषस्त ने फिर पूछा है याज्ञवल्क्य वह सर्वान्तर कौनसा है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा – तुम द्रष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते, श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते, मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते, विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते । तुम्हारा यह आत्मा ही सर्वान्तर है, इससे भिन्न सब नाशवान् है । यह जान कर चाक्रायण उषस्त चुप हो गया ।

पञ्चम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य कहोल संवाद

कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति । एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणाभे ह्येते एषणे एव भवतः ।। १ ।।

कौषीतकेय कहोल ने पूछा – हे याज्ञवल्क्य ! यह सर्वान्तर कौन–सा है ? याज्ञवल्क्य ने कहा– 'जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, सुख–दुःख, जरा व मृत्यु से परे है, यह तुम्हारा आत्मा है; अर्थात् तुम स्वयं ही वह आत्मा हो । जिसको जान कर पुरुष बन्धन से मुक्त हो जाता है । कहोल चुप हो गया ।

षष्ठ ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य गार्गी संवाद

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदँ् सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वाचौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरेतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चोतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चोति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापातिलोका ओताश्च प्रोताश्चोति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चोति स होवाच गार्गि मतिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छासि गार्गि मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ।। १ ।।

गार्गी ने पूछा है –हे याज्ञवल्क्य ! यह जो कुछ है, सब जल में ओतप्रोत है, किन्तु वह जल किस में ओतप्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा – हे गार्गी वायु में ओतप्रोत है ।

गार्गी – वायु किस में ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य – अन्तरिक्ष लोकों में ।

गार्गी – अन्तरिक्ष लोक किस में ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य – हे गार्गी ! गन्धर्व लोक में ।

गार्गी – गन्धर्व लोक किसमें ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य – हे गार्गी ! आदित्य लोक में ।

गार्गी – आदित्य लोक किस में ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य – हे गार्गी ! चन्द्रलोकों में ।

गार्गी – चन्द्रलोक किस में ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य – हे गार्गी ! नक्षत्र लोकों में ।

गार्गी – यह नक्षत्र लोक किस में ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य – हे गार्गी ! देवलोकों में ।

गार्गी – देवलोक किस में ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य – हे गार्गी ! इन्द्रलोक में ।

गार्गी – यह इन्द्रलोक किस में ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य – हे गार्गी ! प्रजापति लोकों में ।

गार्गी – यह प्रजापति लोक किस में ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य – हे गार्गी ! ब्रह्मलोकों में ।

गार्गी – यह ब्रह्मलोक किस में ओतप्रोत है ?

इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा – हे गार्गी ! अतिप्रश्न मत कर तेरा मस्तक न गिर जाय । तू उसके लिये प्रश्न कर रही है जो स्वयंभू है, स्वयंप्रकाश है, सर्वाधिष्ठान है । जिसका कोई कारण नहीं है, उसके सम्बन्ध में प्रश्न मत कर, वह तू स्वयं ही है । तब गार्गी चुप हो गई ।

सप्तम ब्राह्मण

अन्तर्यामी का निरूपण

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।३।

जो पृथिवी में रहनेवाला पृथिवी के भीतर है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथिवी का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। ४ ।।

जो जल में रहनेवाला जल के भीतर है, जिसे जल नहीं जानता, जल जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर जल का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। ५ ।।

जो अग्नि में रहनेवाला अग्नि के भीतर है जिसे अग्नि नहीं जानती, अग्नि जिसका शरीर है और जो भीतर रह कर अग्नि का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्ष ँ् शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। ६ ।।

जो अन्तरिक्ष में रहनेवाला अन्तरिक्ष के भीतर है, अन्तरिक्ष जिसे नहीं जानता, अन्तरिक्ष जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर

अन्तरिक्ष का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

यो वायौ तिष्ठन् वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। ७ ।।

जो वायु में रहनेवाला वायु के भीतर है, जिसे वायु नहीं जानता, वायु जिसका शरीर है, जो वायु में रहकर वायु का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

यो दिवि तिष्ठन् दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। ८ ।।

जो द्युलोक में रहनेवाला , जो द्युलोक के भीतर है, द्युलोक जिसे नहीं जानता, द्युलोक जिसका शरीर है, जो भीतर रहकर द्युलोक का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। ९ ।।

जो आदित्य में रहनेवाला आदित्य के भीतर है, आदित्य जिसे नहीं जानता,आदित्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर आदित्य का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

यो दिक्षु तिष्ठन् दिभ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। १० ।।

जो दिशाओं में रहनेवाला जो दिशाओं के भीतर है, दिशाएँ जिसे नहीं जानती, दिशाएँ जिसका शरीर है और जो दिशाओं के भीतर रहकर दिशाओं का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

यश्चन्द्रतारके तिष्ठँश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकँ शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। ११ ।।

जो चन्द्रमा और ताराओं में रहनेवाला चन्द्रमा और ताराओं के भीतर है, जिसे चन्द्रमा और तारागण नहीं जानते, चन्द्रमा और तारागण जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर चन्द्रमा और ताराओं का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। १२ ।।

जो आकाश में रहनेवाला आकाश के भीतर है, आकाश जिसे नहीं जानता,आकाश जिसका शरीर है और जो आकाश के भीतर रहकर आकाश का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

यस्तमसि तिष्ठिँस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। १३ ।।

जो तम में रहनेवाला तम के भीतर है, तम जिसे नहीं जानता, तम जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर तम का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

यस्तेजसि तिष्ठँ स्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ।। १४ ।।

जो तेज में रहनेवाला तेज के भीतर है, तेज जिसे नहीं जानता, तेज जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर तेज का नियमन करता

है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है । यह अधिदेव दर्शन हुआ, आगे अधिभूत दर्शन है ।

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्याधिभूतमथाध्यात्मम् ।। १५ ।।

जो समस्त भूतों में स्थित, समस्त भूतों के भीतर है, समस्त भूत जिसे नहीं जानते, समस्त भूत जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर समस्त भूतों का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है । यह अधिभूत दर्शन है । अब अध्यात्मदर्शन कहा जाता है ।

यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणामन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। १६ ।।

जो प्राण में रहनेवाला जो प्राण के भीतर है, जिसे प्राण नहीं जानता, प्राण जिसका शरीर है और जो प्राणों के भीतर रहकर प्राणों का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

यो वाचि तिष्ठन् वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। १७ ।।

जो वाणी में रहनेवाला वाणी के भीतर है, जिसे वाणी नहीं जानती, वाणी जिसका शरीर है और जो वाणी में रहकर वाणी का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

यश्चक्षुषि तिष्ठँश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। १८ ।।

जो नेत्र में रहता है, जो नेत्र के भीतर है, जिसे नेत्र नहीं जानते, नेत्र जिसका शरीर है और जो नेत्र के भीतर रहकर नेत्र का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यँ् श्रोत्रं न वेद यस्यश्रोत्रँ् शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। १९ ।।

जो श्रोत्र में रहनेवाला श्रोत्र के भीतर है, श्रोत्र जिसे नहीं जानते, श्रोत्र जिसका शरीर है और जो श्रोत्र के भीतर रहकर श्रोत्र का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। २० ।।

जो मन में रहनेवाला मन के भीतर रहता है, मन जिसे नहीं जानता, मन जिसका शरीर है और जो मन के भीतर रहकर मन का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

यस्त्वचि तिष्ठँ् स्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ् न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। २१ ।।

जो त्वक् में रहनेवाला त्वक् के भीतर रहता है, त्वक् जिसे नहीं जानता, त्वक् जिसका शरीर है और जो त्वक् के भीतर रहकर त्वक् का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञान ँ् शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्त-र्याम्यमृतः ।।२२ ।।

जो विज्ञान में रहनेवाला विज्ञान के भीतर है, विज्ञान जिसे नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर है और जो विज्ञान के भीतर रहकर विज्ञान का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरा यँ् रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा

नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ।। २३ ।।

जो वीर्य में रहता है, वीर्य के भीतर है, जिसे वीर्य नहीं जानता, वीर्य जिसका शरीर है और जो वीर्य के भीतर रहकर वीर्य का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

देख देख देखने वाले को तो देख ।।
सुन सुन सुनने वाले को तो सुन ।।
जान जान जानने वाले को तो जान ।।

वह दिखायी न देनेवाला है किन्तु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला है किन्तु सुननेवाला है । मनन का विषय न होनेवाला किन्तु मनन करनेवाला है और विशेषतया ज्ञात न होनेवाला किन्तु विशेष रूप से सबको जाननेवाला है । वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है । इससे भिन्न सब नाशवान् है । इसके पश्चात् अरुणपुत्र उद्दालक चुप हो बैठ गया ।

अष्टम ब्राह्मण

दो प्रश्न पूछनेके लिये गार्गीका आज्ञा माँगना

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ पक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न जातु युष्मकामिमं कश्चिद् ब्रह्मेद्यं जेतति पृच्छ गार्गीति ।।१।।

पहले याज्ञवल्क्य निषेध करने पर कि तू अति प्रश्न मत कर कहीं तेरा मस्तक न गिर जाय, यह सुन गार्गी चुप हो गई थी । अब पुनः प्रश्न करने के लिये ब्राह्मण सभा से आज्ञा मांगती है । हे भगवन् ! हे पुज्य ब्राह्मणगणों ! मेरी बात सुनिये, यदि आप लोगों की अनुमति हो तो मैं इन याज्ञवल्क्य जी से दो प्रश्न और पूछ कर देखती हूँ । यदि ये मेरे उन दो प्रश्नों के उत्तर दे देते हैं तो आप में से कोई भी इन श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्यजी को ब्रह्म सम्बन्धी वाद में कभी किसी प्रकार भी जीतनेवाला नहीं हो सकेगा । इस प्रकार कहे जाने पर ब्राह्मणों ने कहा–'हे गार्गि ! तू पूछ, ऐसा कह कर अनुमति दे दी ।'

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ।।३।।

वह बोली – हे याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोक से ऊपर है, जो पृथ्वी से नीचे है और जो द्युलोक और पृथिवी के मध्य में है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथ्वी है तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य– इस प्रकार कहते हैं, वे किस में ओतप्रोत है ?

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति ।।४।।

उन याज्ञवल्क्य ने कहा, 'हे गार्गि ! जो द्युलोक से ऊपर है, पृथ्वी से नीचे है और जो द्युलोक एवं पृथ्वी के मध्य में है और स्वयं भी जो द्युलोक और पृथ्वी है तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य –इस प्रकार कहते हैं, वह सब आकाश में ओतप्रोत है ।

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एतं व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ।।५।।

याज्ञवल्क्यजी से अपने प्रश्न का उत्तर पाकर गार्गि बहुत प्रसन्न हुई और बोली – हे याज्ञवल्क्य ! आपको मैं नमस्कार करती हूँ । आपने मेरे प्रश्न का उत्तर दे दिया, आप दूसरे प्रश्न के लिये तैयार हो जाईये । तब याज्ञवल्क्य ने कहा, ' गार्गि पूछ तेरा दूसरा प्रश्न' ।

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ।।६।।

गार्गि बोली 'हे याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोक से ऊपर है जो पृथ्वी से नीचे है और जो द्युलोक और पृथ्वी के मध्य में है और स्वयं भी जो द्युलोक व पृथ्वी है तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य – इस प्रकार कहते हैं, वे किस में ओतप्रोत है ?'

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव प्रदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ।।७।।

याज्ञवल्क्यजी ने कहा– हे गार्गि ! यह सब आकाश में ओतप्रोत है । गार्गि ने फिर प्रश्न कर लिया कि यह आकाश किस में ओतप्रोत है ?

स होवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽ–वाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेज–स्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन ।।८।।

उस याज्ञवल्क्य ने कहा – हे गार्गि ! उस इस तत्त्व को तो ब्रह्मवेता अक्षर कहते हैं, वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है , न पीला, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न संग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उस में न अन्तर है न बाहर है, वह कुछ भी नहीं खाता है, उसे कोई भी नहीं खाता है ।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतिच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः पशँ् सन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ।।९।।

हे गार्गि ! इस अक्षर आत्मा के ही प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं, इस अक्षर आत्मा के प्रशासन में ही द्युलोक और पृथ्वी विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित

रहते हैं । इस अक्षर के ही प्रशासन में निमेष, मुहूर्त, दिन–रात, अर्धमास, मास, ऋतु और संवत्सर विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं । इस अक्षर आत्मा के प्रशासन में ही पूर्ववाहिनी एवं अन्य नदियाँ श्वेत पर्वतों से बहती हैं तथा अन्य पश्चिम वाहिनी नदियाँ जिस–जिस दिशा को बहने लगती है, उसीका अनुसरण करती रहती हैं । हे गार्गि ! इस अक्षर आत्मा के ही प्रशासन में मनुष्य दाता की प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमान का और पितृगण दर्वीहोम का अनुवर्तन करते हैं ।

अक्षर के ज्ञान व अज्ञान के परिणाम

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्त्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः ।।१०।।

हे गार्गि ! जो कोई इस लोक में इस अक्षर को न जानकर हवन करता है, यज्ञ करता है और अनेकों सहस्त्र वर्ष पर्यन्त तप करता है, उसका वह सब कर्म अन्तवान् ही होता है । जो कोई भी इस अक्षर को बिना जाने इस लोक से मरकर जाता है वह शुद्र, कृपण, दीन, सोचनीय है और हे गार्गि ! जो इस अक्षर को जान कर इस लोक से मर कर जाता है, वह वास्तव में ब्राह्मण है ।

अक्षर आत्मा का स्वरूप,लक्षण और अद्वितीयत्व

तद् वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्ट्नश्रुत ँ् श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृनान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्मि मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रे तस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ।।११।।

हे गार्गि ! यह अक्षर आत्मा स्वयं दृष्टि का विषय नहीं, किन्तु द्रष्टा है, श्रवण का विषय नहीं, किन्तु श्रोता है, मनन का विषय नहीं, किन्तु मन्ता है, स्वयं अविज्ञाता रहकर दूसरों का विज्ञाता है । इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न काई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है , इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है । हे गार्गि ! निश्चय इस अक्षर आत्मा में ही आकाश ओतप्रोत है ।

गार्गी का निर्णय

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मेद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम ।।१२।।

उस गार्गी ने कहा, पुज्य ब्राह्मणगण ! आप लोग इसी को बहुत मानें कि इस याज्ञवल्क्यजी से आपको नमस्कार द्वारा ही छुटकारा मिल जाय । आपमें से कोई भी, कभी इन्हें ब्रह्म विषयक वाद में जीतनेवाला नहीं है । तदनन्तर गार्गी चुप हो गई ।

चतुर्थ अध्याय

तृतीय ब्राह्मण

आत्मज्योति

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किं ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति ।।६।।

विदेह राज जनक ने पूछा – हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर, अग्नि के शान्त हो जाने पर, वाक् के भी शान्त हो जाने पर यह पुरुष इन सब के अभाव में किस ज्योतिवाला रहता है ?

याज्ञवल्क्य ने कहा– हे जनक ! यह पुरुष समस्त बाह्य ज्योतियों के अभाव में आत्मज्योति के द्वारा ही बैठता, इधर–उधर जाता, कर्म करता और फिर लौटता है ।

चतुर्थ ब्राह्मण

तदेष श्लोको भवति । यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति । तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदँ्शरीरँ् शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्त्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ।।७।।

जिस समय इसके हृदय में आश्रित सम्पूर्ण कामनाओं का नाश हो जाता है तो फिर यह मरण धर्मा अमृत हो जाता है और यहीं इस

शरीर में ही उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार सर्प की केंचुली बाँबी के ऊपर मृत पड़ी रहती है, उसी प्रकार जीवात्मा के निकलजाने पर याने देह के परित्यक्त कर देने पर यह शरीर भी पड़ा रहता है और यह अशरीरी अमृत आत्मा तो ब्रह्म ही है – तेज ही है। तब विदेहराज जनक ने कहा, वह मैं जनक श्रीमान याज्ञवलक्य जी को मेरे द्वारा किये गये प्रश्न के समाधान के लिए, आपके द्वारा इस प्रकार विमुक्त किया हुआ मैं इस विद्यादान से उत्ऋण होने के लिए आप श्रीमान् को एक सहस्त्र गौएँ देता हूँ।

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१२॥

यदि यह पुरुष आत्मा को 'मैं आत्मा हूँ' इस प्रकार विशेष रूप से जान जाय तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामना से वह शरीर के पीछे दुःखी होगा ?

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महति विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१४॥

हम इस शरीर में रहते हुए ही यदि उसे जानलेते हैं जिसकी कभी मृत्यु बन्धन नहीं होता है तो हम कृतार्थ हो जाते हैं। यदि उस अमृत अखण्डानन्द स्वरूप निजात्म स्वरूप को नहीं जाना तो बड़ी हानि है। जो उसे जान लेता है, वे अमृत हो जाते हैं, किन्तु दूसरे लोग तो दुःख को ही प्राप्त होते हैं।

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोतस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्मा पुराणमग्रयम् ॥१८॥

जो उसे प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र तथा मन का मन जानते हैं, वे उस पुरातन सनातन ब्रह्म को मैं रूप से जानते हैं, उस ब्रह्म को जाननेवाला मैं अमृत ही हूँ।

ब्रह्मदर्शन की विधि

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।।१९।।

ब्रह्म को आचार्य उपदेशपूर्वक मन से देखना चाहिये । इसमें नाना कुछ भी नहीं है । जो इस अद्वैय, अखण्ड सत्ता में नाना के समान कुछ भी देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है ।

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् ।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः ।।२०।।

उस ब्रह्म को आचार्य उपदेश के अनन्तर सबको एक प्रकार से ही देखना, जानना चाहिये । यह अप्रमेय ध्रुव, निर्मल, आकाश से भी सूक्ष्म, अजन्मा, आत्मा, महान और अविनाशी अमृत ब्रह्म ही मैं हूँ ।

ब्रह्मनिष्ठा में अधिक शास्त्राभ्यास बाधक है

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनँ्हि तदिति ।।२१।।

बुद्धिमान ब्राह्मण को उसे ही सोऽहम् रूप जानकर उसी को मैं रूप से जानना चाहिये । बहुत शब्दों का अनुध्यान निरन्तर चिन्तन न करे, वह तो वाणी का श्रम है ।

ब्रह्मवेता की महिमा

ब्रह्मवेत्ताकी स्थिति और याज्ञवल्क्यके प्रति जनकका आत्मसमर्पण

तदेतदृचाभ्युक्तम् । एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति । तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति ।।२३।।

जो पुण्य कर्म से न बढ़ती है, न पाप कर्म से घटती है । उस आत्म महिमा को स्वरूप अर्थात् मैं रूप से जाननेवाले ब्रह्मवेता की यह महिमा है । आत्मज्ञान से रहित जीव तो पुण्य–पाप का भोगी बन ऊपर–नीचे योनियों में भटकता रहता है ।

आत्मनिष्ठ व्यक्ति दुष्कर्म, पापकर्म से लिप्त नहीं होता। प्रारब्ध से जो धन सामग्री मिलता है उसे विवेक पूर्वक प्राण रक्षा हेतु ग्रहण करता है । अधिक प्राप्त होने पर बाँटकर विश्राम करता है । उसकी संग्रहवृत्ति नहीं होती है ।

अतः इस प्रकार जाननेवाले शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मा में ही अपने को देखता है । देह भाव को पुनः प्राप्त नहीं होता है । उसे प्राप्त से होनेवाले कर्मों द्वारा पुण्य –पाप की प्राप्ति नहीं होती है । यह सम्पूर्ण पुण्य–पाप को पार कर जाता

है । इसे पाप–ताप नहीं छूते हैं । यह निष्पाप, निष्काम, निःसंशय ब्राह्मण हो जाता है । हे सम्राट ! यह ब्रह्मलोक है, तुम इसे प्राप्त कर चुके हो – ऐसा याज्ञवल्क्य ने विदेह राज जनक को कहा । तब जनक ने कहा, 'वह मैं श्रीमान याज्ञवल्क्य सद्‌गुरु को भेट रूप में विदेह देश देता हूँ, साथ ही आपकी सेवा करने के लिये अपने आपको भी समर्पण करता हूँ ।'

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयँ हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ।।२५।।

वही यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्म है । यह अमृत, अभय, आत्मा ही ब्रह्म है और वह ब्रह्म ही मैं हूँ – ऐसा जो अपने को जानता है वह अमृत ब्रह्म ही हो जाता है ।

पञ्चम अध्याय

द्वितीय ब्राह्मण

देव, मनुष्य, दानव तीनों का एक ही 'द' अक्षर का उपदेश

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवनिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ।।१।।

देव, मनुष्य और असुर–इन प्रजापति के पुत्रों ने अपने पिता प्रजापति के यहाँ ब्रह्मचर्यवास किया । ब्रह्मचर्य वास के बाद देवों ने

प्रजापति को कहा आप हमारे कल्याण के लिये उपदेश कीजिये । उनसे प्रजापति ने 'द' यह अक्षर कहा और पूछा– 'समझगये क्या?' इस पर देवों ने कहा, 'समझगये, आपने हमें दमन करने का उपदेश किया है, क्योंकि हम देवताओं का जीवन भोग प्रधान रहता है । तब प्रजापति ने कहा, 'ठीक है, तुम समझगये ।

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ।।२।।

फिर प्रजापति से मनुष्यों ने कहा, 'आप हमें भी हमारे कल्याणार्थ उपदेश कीजिये ।' उनसे भी प्रजापति ने 'द' अक्षर का उपदेश किया और पूछा 'समझगये क्या'? मनुष्यों ने कहा, 'समझगये, आपने हमसे 'दान करो' का उपदेश किया । तब प्रजापति ने 'हाँ समझगये' ऐसा समर्थन किया ।

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत् त्रय्ँ शिक्षेद्दमं दानं दयामिति ।।३।।

फिर प्रजापति से असुरों ने अपने कल्याण हेतु प्रार्थना की, 'आप हमें उपदेश कीजिये ।' उनसे प्रजापति ने वही 'द' अक्षर का उपेदश किया और पूछा 'समझगये क्या?' असुरों ने कहा, 'हाँ, हम समझगये, आपने हमें दया करो' ऐसा कहा, क्योंकि हमारे में हिंसा प्रकृति सदा बनी रहती है । तब प्रजापति ने कहा – हाँ, तुम ठीक समझगये ।

अतः मनुष्यों को अपने कल्याण हेतु दम, दया, और दान इन तीनों वृतों का धारण करना चाहिये ।

षष्ठ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

इन्द्रियों के श्रेठता की कसौटी

ते हमे प्राणा अहँ् श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जाग्मुस्तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन् व उत्क्रान्त इदँ् शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ।।७।।

ये वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, रेतस्, प्राणादि में अपनी श्रेठता का विवाद का समाधान हेतु यह सब ब्रह्मा के पास गये । उनसे बोले 'हम में कौन वसिष्ठ है ?' उसने कहा, 'तुममें से जिसके उत्क्रमण करने पर, शरीर से अलग हो जाने पर यह शरीर अपने को अधिक कमजोर तथा असमर्थ पाता है, वही तुम में श्रेष्ठ है, ऐसा जान लेना ।

वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्थथाकला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा श्रृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाँ्सो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ।।८।।

सर्वप्रथम वाक् इन्द्रिय इस देह से एक वर्ष हेतु बाहर निकल लौट जब आई और कहा – 'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके थे ? यह सुनकर उन सभी ने कहा, 'जैसे मूक पुरुष वाणी से न बोलते हुए

भी प्राण से प्राण क्रिया करते हैं, नेत्र से देखते, श्रोत्र से सुनते, मन की मनन क्रिया से जानते और मैथुन क्रिया द्वारा सन्तान उत्पत्ति करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम जीवित रहे ।' यह सुन कर वाक् का श्रेष्ठता का घमण्ड गिर गया व वाक् ने शरीर में प्रवेश किया ।

चक्षुर्होच्चक्राम तत् संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथान्धा अपश्यन्त –चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा श्रृणवन्तः श्रोत्रेण विद्वा ँ्सो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह चक्षुः ।।९।।

अब चक्षु ने शरीर से बाहर रह कर एक वर्ष वाद लौट कर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रहे थे ?' वे सब बोले, 'जिस प्रकार अन्धे लोग नेत्र से न देखते हुए भी प्राण से प्राणन क्रिया करते, वाणी से बोलते, श्रोत्र से सुनते , मन से जानते और लिंग से मैथुन क्रिया करते हुए परिवार सहित जीवित रहे ।' यह सुन कर चक्षु का श्रेष्ठता का घमण्ड शान्त हो गया, वह शरीर में प्रवेश कर गई ।

श्रोत्र ँ्होच्चक्राम तत् संवत्सरं प्रोष्यागत्यावाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अश्रृणवन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वा ँ्सो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ।।१०।।

अब शरीर से बाहर श्रोत्र ने उत्क्रमण किया । उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रहे ?' वे सब बोले, 'जिस प्रकार बहरे आदमी कानों से न सुनते हुए भी प्राण से प्राणन क्रिया करते, वाणी से बोलते, मन से जानते और लिंग से मैथुन क्रिया करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम जीवित रहे । यह सुन कर श्रोत्र ने देह में प्रवेश किया ।

मनो होच्चक्राम तत् संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वा॑ सो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृणवन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ।।११।।

मन ने उत्क्रमण किया । उसने एक वर्ष बाहर रह कर लौटकर कहा, 'तुम हमारे बिना कैसे जीवित रहे ?' वे सब बोले– 'जिस प्रकार मुग्ध पुरुष अर्थात् मन्दबुद्धि वाला मन से न समझते हुए भी प्राण से प्राणन क्रिया, वाणी से बोलते, नेत्र से देखते, कान से सुनते और लिंग से सन्तान उत्पत्ति करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम जीवित रहे ।' यह सुन कर मन ने शरीर में प्रवेश किया ।

रेतो होच्चक्राम तत् संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृणवन्तः श्रोत्रेण विद्वा॑ सो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः ।।१२।।

रेतस् (लिङ्ग) ने उत्क्रमण किया । उसने एक वर्ष बाहर रहकर फिर लौट कर कहा – तुम मेरे बिना कैसे जीवित रहे ? वे बोले, जिस प्रकार नपुन्सक बिना मैथुन के, सन्तान उत्पत्ति किये बिना जीवित रहते है और वे प्राण से प्राणन क्रिया करते, चक्षु से देखते, कान से सुनते, मन से जानते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम जीवित रहे । यह सुन कर वीर्य ने शरीर में प्रवेश किया ।

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन् यथा महासुहयः सैन्धवः षड्वीशशङ्कून् संवृहेदेव॑ हैवेमान् प्राणान् संववर्ह ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति ।।१३।।

अन्त में प्राण उत्क्रमण करने लगा तो जिस प्रकार बिजली करंट चले जाने से समस्त शहर, फेक्ट्री अन्धकार रूप हो जाते है, सभी मशीने तत्क्षणात् रुक जाती है, उसी प्रकार वह प्राण के बाहर जाते ही इन सब इन्द्रियों को स्थानच्युत करने लगा । तब उन सभी इन्द्रियों ने कहा, भगवन् ! आप न जावें, आपके बिना हम जीवित नहीं रह सकेंगे । प्राण ने कहा, अच्छा तो मुझे भेंट दिया करो । वाग, चक्षु, श्रोत्रादि ने कहा– बहुत अच्छा ।

चतुर्थ ब्राह्मण

सन्तान उत्पत्ति विज्ञान

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रिय॒ँ ससृजे ता॒ँ सृष्टवाध उपास्त तस्मात् स्त्रियमध उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत ।।२।।

प्रजापति ने विचार किया कि मैं अपने वीर्य की स्थापना के लिये किसी योग्य आधार भूमि का निर्माण करूँ, अतः उन्होंने स्त्री शरीर की रचना की । उसकी रचना करके उन्होंने स्त्री के अधोभाग की उपासना की अर्थात् मैथुन कर्म का विधान किया और अपने लिंग को स्त्री की योनि में प्रवेश कर उससे स्त्री का संसर्ग किया ।

तस्या वेदीरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासा॒ँ स्त्रीणा॒ँ सुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्यास्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते ।।३।।

स्त्री की उपस्थ इन्द्रिय वेदी है वहाँ के रोएँ कुशा है । योनि का मध्य भाग प्रज्वलित अग्नि है । योनि के पार्श्वभाग में जो दो कठोर मांस खण्ड हैं उनको मुष्क कहते हैं । वे दोनों मुष्क ही 'अधिषवण' नाम से प्रसिद्ध चर्ममय सोमफलक है ।

वाजपेय यज्ञ करने से यजमान को जितना पुण्य लोक प्राप्त होता है, उतना ही उसे भी प्राप्त होता है, जो इस प्रकार धार्मिक सन्तान उत्पत्ति हेतु आचरण करता है । वह इन स्त्रियों के पुण्य को अवरुद्ध कर लेता है । तथा जो इस प्रकार धार्मिक भावना के बिना स्त्री संसर्ग केवल विषय वासना निवृत्ति हेतु करता है, उस कामी पुरुष के पुण्य को वह स्त्री अवरुद्ध कर लेती है । यहाँ मैथुन कर्म की स्तुती की जाती है । अतः धर्ममय इस यज्ञ से घृणा नहीं करना चाहिये ।

एतद्ध स्म वै तद् विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान् कुमारहारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात् प्रयन्ति य इदमविद्वाँ् सोऽधोपहासं चरन्तीति बहु वा इदँ् सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति ।।४।।

निश्चय ही इस मैथुन कर्म को वाजपेय सम्पन्न जाननेवाले उद्दालक कहते हैं कि जो निरिन्द्रिय, सुकृतहीन और मैथुन विज्ञान से अपरिचित होकर भी मैथुन कर्म में आसक्ति पूर्वक प्रवृत्त होते हैं, वे परलोक से भ्रष्ट हो जाते हैं । यदि पत्नी का ऋतुकाल प्राप्त होने से पूर्व प्राणोपासक व्यक्ति का वीर्य किसी समय स्खलित हो जावे तो उसे प्रायश्चित करना चाहिये ।

सा चेदस्मै न दद्यात् काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात् काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रमेदिन्द्रियेण ते यशसा आदद इत्ययशा एव भवति ।।७।।

यदि स्त्री अपने पति को मैथुन न करने दे तो पति उस स्त्री की इच्छानुसार वस्त्र, आभूषण, मिठाई आदि वस्तुएँ देकर उसके प्रति अपना प्रेम प्रकट करे। इतने पर भी यदि वह स्त्री किसी कारण से दुःखी अथवा रोगग्रस्त होने पर भी अपने पुरुष को मैथुन करने के लिए स्वीकृति न दे, और वह पति उसके साथ फिर भी जोर–जुलुम से मैथुन क्रिया करे तो वह व्यभिचार ही कहलावेगा। बाहर के बलात्कार तो टीवी, रेडिओ, न्युजपेपर में छपे–पढ़े–देखे जाते हैं। किन्तु घर–घर में अपनी पत्नी के साथ अपने ही पुरुष के द्वारा इच्छा न होने पर उसके साथ होनेवाले उस संभोग को बलात्कार जाने, किन्तु पुरुष को कोई सरकार, पुलिस नहीं रोक पाती है, यह महान दुःख की बात है।

स य इच्छेत् पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ।।१४।।

जो पुरुष चाहता हो कि मेरा पुत्र शुक्ल वर्ण का हो एक वेद का अध्ययन करे और पूरे १०० वर्षों की आयु तक जीवित रहे, उस दशा में वे दोनों पति–पत्नी दूध, चावल पका कर खीर बनाले और उसमें घी मिलाकर खावें।

अथ य इच्छेत् पुत्रो मे कलिपः पिङ्गलो चायेत द्वै वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ।।१५।।

जो दो वेदों के ज्ञाता संन्तान का पिता होना चाहता है वे पति पत्नी दही में भात पकाकर घी मिलाकर खावे।

अथ य इच्छेत् पुत्रो मे मे श्यामो लोहिताक्षो जायत त्रीन् वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितव ।।१६।।

तीन वेदों के ज्ञाता सन्तान हेतु केवल जल में चावल पकाकर भात में घी मिलाकर खावें ।

अथ य इच्छेत् तुहिता में पण्डिता जायते सर्वमायुरियादिति ंतिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितव ।।१७।।

जो अपनी पुत्री को विदुषी बनाना चाहता हो वह और उसकी पत्नी चावल और तिल की खिचड़ी पकाकर, उसमें घी मिलाकर खावें ।

अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रुषितां वाचं भाषिता जायते सर्वमायुरियादिति माँ सौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा ।।१७।।

जो चाहता कि मेरा पुत्र अथवा पुत्री प्रख्यात पण्डित विद्वानों की सभा में निर्भय प्रवेश कर श्रवण सुखद वाणी बोलनेवाला हो, सम्पूर्ण वेदों का स्वाध्याय करे और पूरे सौ वर्ष तक जीवित रहे, वह पुरुष और उसकी पत्नी ओषधियों का गूदा और चावल पकाकर उसमें घी मिलाकर खावे ।

इस सम्बन्ध में विस्तार से जानकारी प्राप्त करने हेतु इच्छुक व्यक्ति इस षष्ठ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण का मूल ग्रन्थ का स्वाध्याय करे ।